वर्ण व्यवस्था

'वर्ण' शब्द संस्कृत की 'वृ' धातु से निकला है जिसका शाब्दिक अर्थ वरण करना या चुनना है । इस प्रकार इससे तात्पर्य वृत्ति अथवा व्यवसाय-चयन से है । वर्ण का एक अर्थ रंग भी है तथा इस अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं मिलता है ।

ऋग्वेद में इसका प्रथम प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है जहाँ आर्यों ने अपने को श्वेत वर्ण तथा दास-दस्युओं को कृष्णवर्ण का बताया है । कालान्तर में यह शब्द वृत्ति का सूचक वन गया तथा व्यवसाय के आधार पर समाज में वर्णों का विभाजन किया गया । तत्पश्चात् उनमें कठोरता आई तथा व्यवसाय के स्थान पर जन्म को आधार मान लिया गया जिसके फलस्वरूप वर्ण जाति में परिणत हो गये ।

प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति सम्बन्धी विविध उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनमें सर्वप्रथम इसे दैवी व्यवस्था मानने का सिद्धान्त है जिसका प्रतिपादन ऋग्वेद, महाभारत, गीता आदि में मिलता है । ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में चारों वर्षों को विराट पुरुष के चारों अंगों से उत्पन्न कहा गया है ।

तदनुसार उसके 'मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघे से वैश्य तथा पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई ।' चातुर्वर्ण व्यवस्था का यह प्राचीनतम उल्लेख है । यहाँ सम्पूर्ण सामाजिक संगठन एक शरीर के रूप में कल्पित किया गया है जिसके विभिन्न अंग समाज के विविध वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

मुख वाणी का स्थान है, अत: ब्राह्मणों की उत्पत्ति मानव जाति के शिक्षक के रूप में हुई । भुजायें शौर्य एवं शक्ति का प्रतीक है, अत: क्षत्रिय का कार्य हथियार ग्रहण करके मानव जाति की रक्षा करना है । जंघा शरीर के निचले भाग का प्रतिनिधि है ।

समस्त शरीर को धारण करने का भार जंघों पर ही टिकता है । इससे तात्पर्य संभवतः उस भाग से हो सकता है जो शरीर का पोषण करता है, अत: वैश्य की उत्पत्ति मानव जाति को अन्न प्रदान करने अथवा पोषण करने के लिये है ।

यह बात इससे भी स्पष्ट है कि प्राचीन शास्त्रों के अनुसार कृषिकर्म का अधिकार वैश्यों को ही था । वे आर्थिक सम्पत्ति के स्वामी थे । पैर शरीर के भारवाहक हैं, अत: शूद्र की उत्पत्ति समाज का भारवहन करने अर्थात् अन्य वर्णों की सेवा करने के निमित्त हुई है ।

ऋग्वेद की वर्णविषयक अवधारणा श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है जिसमें प्रत्येक वर्ण के कार्य का महत्व है । इसे दैवी आधार प्रदान करने के पीछे यह मान्यता रही कि ईश्वर की शक्ति से डरकर सभी इसके अनुसार आचरण करेंगे तथा कोई भी इसके उल्लंघन करने का साहस नहीं करेगा ।

ऋग्वेद के उपर्युक्त सिद्धान्त का समर्थन महाभारत, गीता, पुराण आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। महाभारत में विराट पुरुष के स्थान पर ब्रह्मा की कल्पना की गयी है तथा उसके विविध अंगों से चारों वर्षों की उत्पत्ति बताई गयी है।

शान्तिपर्व के अन्तर्गत यह उल्लेख प्राप्त होता है जहाँ बताया गया है कि- 'ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघे से वैश्य तथा तीनों वर्षों की सेवा के लिये पैर से शूद्र की रचना हुई।' गीता में भगवान कृष्ण ने स्वयं को चारों वर्णों का कर्ता तथा विनाशक बताया है। मनुस्मृति तथा पुराण भी वर्ण व्यवस्था की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। मनु के अनुसार- 'ब्रह्मा ने लोकवृद्धि के लिये मुख, बाहु, ऊरु तथा पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि की।'

पुराण ब्रह्मा के स्थान पर विष्णु को इस व्यवस्था का जनक मानते हैं। विष्णु पुराण में भी वर्ण व्यवस्था की दैवी उत्पत्ति को स्वीकार करते हुए बताया गया है कि भगवान विष्णु के मुख, बाहु, जंघे तथा पैर से चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई। मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड आदि कुछ अन्य पुराणों में भी इसी प्रकार का विवरण प्राप्त होता है।

चातुर्वर्ण की उत्पत्ति विषयक कर्म का सिद्धान्त सबसे महत्वपूर्ण है। ऋग्वेद से पता चलता है कि समाज में केवल दो वर्ण थे- आर्य वर्ण तथा दास वर्ण। कालान्तर में कर्मों के आधार पर इनके विभेद हुए। जब आर्य भारत में बस गये तो उन्होंने भिन्न-भिन्न कर्मों के आधार पर विभिन्न वर्गों का विभाजन किया।

जो व्यक्ति यज्ञादि कर्म कराते थे उन्हें 'ब्रह्म', जो युद्ध में निपुण थे तथा लोगों को सुरक्षा प्रदान करने में समर्थ थे उन्हें 'क्षत्र' (क्षत्रिय) नाम दिया गया। शेष जनता को 'विश्' कहा गया। वर्ण व्यवस्था का यह प्रारम्भिक स्वरूप था। कालान्तर में 'शूद्र' नामक चौथा वर्ण इसमें जोड़ दिया गया।ऋग्वेद के दशवें मण्डल के पुरुषसूक्त में सर्वप्रथम इस वर्ण का उल्लेख मिलता है।

ऋग्वैदिक समाज में प्रारम्भ में केवल तीन वर्ण थे- ब्रह्म, क्षत्र तथा विश। इस काल के अन्त में हम शूद्र वर्ण का उल्लेख पाते हैं। इस समय विभिन्न वर्णों के व्यवसाय खान-पान, विवाह आदि के ऊपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था और एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण की वृत्ति अपना सकता था।

इस समय तक वर्णों में कठोरता नहीं आने पाई थी। ऋग्वेद में एक स्थान पर एक ऋषि कहता है- 'मैं कवि हूँ। मेरा पिता वैद्य है तथा मेरी माता अन्न पीसने का कार्य करती है। साधन भिन्न है किन्तु सभी धन की कामना करते हैं।'

इससे स्पष्ट है कि एक ही परिवार के व्यक्ति भिन्न-भिन्न व्यवसाय ग्रहण कर सकते थे। इसी प्रकार विभिन्न वर्णों के बीच खान-पान एवं अन्तर्विवाह के ऊपर भी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। वस्तुतः

ऋग्वैदिक समाज की वर्ण व्यवस्था उन्मुक्त थी। यह जन्म अथवा वंश पर आधारित न होकर व्यक्ति के गुण और कर्म पर ही आधारित थी।

उत्तर वैदिक काल तक आते-आते समाज में चारों वर्णों की स्पष्टतः प्रतिष्ठा हुई। इस समय ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद आदि ग्रन्थ लिखे गये। इस काल के समाज में हम प्रथम बार विभिन्न वर्णों के बीच भेदभाव पाते हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य की पहचान के लिये अलग-अलग प्रकार के यज्ञोपवीत (जनेऊ) का विधान किया गया।